

न्धेन आत्मा और जड का सम्बन्ध अनादि है।

इस दुर्भाग्यपूर्ण जड-चेतन के नित्य संयोग से आत्मा संसार में अनन्तकालीन भवभ्रमणरूप महादुःख को प्राप्त करता है। उसके स्वाभाविक तेज के नष्ट होने पर अशुद्ध दृष्टि नामक मोह सम्राट्का अग्रणी सेनानी आत्मसाम्राज्य में गुप्त रूप से प्रवेश करता है। उसके पश्चात् ही मोह की महती सेना प्रविष्ट होकर प्रबल आक्रमण से विशुद्ध स्वातन्त्र्य युक्त चैतन्य पुरके शुद्ध स्वभावरूप मैदान को अपने हस्तगत कर आत्मसाम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर डालती है। महाराजाधिराज मोह का आडंबर पूर्वक प्रवेश होता है। आत्माको अपने आधीन न रहने के कारण स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका प्रयत्न रूप “राजद्रोह” का आरोप लगाकर सदाके लिये कैदी बनाया जाता है। अष्टविध कर्मों की कष्टदायक वेडियों से जकड़ने के बाद अनन्तकाल तक भवरूपी जेल में डाल दिया जाता है।

यह छोटी तथा आत्माकी कष्ट कहानी है। यदि मानव समाज सोचे तो आत्माकी यह परतन्त्रता घड़ी भर के लिये भी सध्य नहीं हो सकता। देखा जाता है भौतिक संसारमें पारतन्त्र्य की वेडी में निगड़ित जनता दिनों दिन कैसे विनाश के गर्त में अग्रसर होती जा रही है। उत्तरोत्तर उसको हास के ही दृश्य देखने पड़ते हैं। उन्नति का स्वप्न भी नहीं। लेकिन वही वार्षित दुःखित जनता

वचनामृत

१-नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः । यह आत्मा प्रवचन से प्राप्त करने योग्य नहीं है । -उपनिषद् ।

२-अपनी आत्मा को खोजो उसी से तुमको सब बातोंका पता लगेगा । इस ज्ञान गुत्थी को सुलझाने के लिये अपनी आत्मा को जान लेना ही सबसे बड़ा साधन है ।

-याज्ञवल्क्य ।

३-जो मनुष्य जितना अन्तर्मुख होगा जितनी ही वृत्ति सात्त्विक और निर्मल होगी उतनी ही दूर की वह सोच सकेगा और उतनी ही दूर के परिणामों को वह देख सकेगा ।

-अज्ञात ।

४-यदि हम अपने कर्म-सिद्धान्तों को मानते हैं और सब कुछ उस पर दृढ़ रहते हैं तो अनासक्ति अपने आप आ जाती है ।

-अज्ञात ।

श्रीः

प्रणम्य श्रीमहावीरं शारदां च गुरुं तथा ।
धर्मोपदेशनत्त्वान्न्यं क्रियते स्वान्यबोधकृत् ॥१॥

भूमिका

इस संसार में सभी जीव जन्म, मरण, जरा, आधि, व्याधि आदि अनेक प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं। यह दुःख क्षणिक है या स्थायी, इसका नाश हो सकता है या निरन्तर इसी प्रकार एक रूप से उसको भोगते ही रहना पड़ेगा ? इस विषय में मनुष्यों को अवश्य विचार करना चाहिए।

पशुओं की अपेक्षा मनुष्यों में विचार शक्ति अधिक होती है और चित्त भी उनकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट होता है जिससे वे चाहें जिस प्रकार का विचार या निर्णय कर सकते हैं।

विचारशक्ति अधिक होने पर भी यदि मनुष्य दुःख का मूल कारण ढूंढने या उस दुःख को नष्ट करने का विचार या प्रयत्न न करे तो मनुष्य होने से क्या लाभ

श्री मुक्ति-चंद्र श्रमण आराधना केन्द्र.

[बुद्ध और अशक्त मुनि भगवंतो आदि के—
आराधना का अपूर्व स्थान...]



अष्टकर्म के भोग से आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है उस में जब प्रचल पृथ्योदय होता है तब आत्मा अपने स्वस्वरूप को जानकर आत्मकल्याण के पथ पर स्थिर होता है और अग्रमत्तभाव से अपना कार्य साधने में प्रवृत्त होता है । पर जगत के जो अटल नियम हैं उसे कोई भी टाल नहीं सकते ।

साधक भी जब वृद्धावस्था में प्रवेश करता है तब देह अपना धर्म बजाना है और इन्द्रियां निर्वल बनती हैं उस समय अनादिकाल से देहाध्यास के कारण शरीर सेवा-गुथुपा मागती हैं, इस अवसर पर सेवा के अभाव में आत्मा दृष्ट्यान में लगता है, इस अवस्था में आत्मा को पूर्ण समाधि और शान्ति मिले और दृष्ट्यान का अवसर न आवे इस उद्देश्य से इस ग्रन्थ के लेखक प. ५० योगनिष्ठ आचार्यदेव श्री विजयदेशमुखीश्वरजी महाशय साहेब के पट्टधर प. ५०

- (४) शेठ साकेरचंद लगनलाल सरकार-मुंबई
- (५) संघवी इन्द्रमलजी गुलाबचंदजी-आदीनी
- (६) शेठ मोतीलालजी धनराजजी लापोदवाला-बंगनो
- (७) संघवी चैनराजजी सतकमलजी-जैतारण
- (८) शेठ भीखुभाई चीमनलाल चोकसी-अमदावाद
- (९) संघवी मीसरीमलजी कुन्दनमलजी-अमदावाद
- (१०) शेठ वनेचंद अ. महेता-मुंबई

पत्र व्यवहार का पत्ता :—

श्री मुक्तिचंद्र अमण आराधना केन्द्र

गिरि चिहार, तळेटी रोड,

पालीताणा [गुजरात]



‘मैं’ पुरुष हूँ । पुरुषसंज्ञा सूचक चिह्न वाले शरीर में रहने के कारण पुरुष कहे जाते हैं, यदि स्त्रीसंज्ञा वाले शरीर में होते तो स्त्री कहे जाते । अतः पुरुष स्त्री आदि भी आपका नियमित स्वरूप नहीं कहा जा सकता है । ये तो उपाधियाँ हैं ।

‘मैं’ क्षत्रिय हूँ । इसे भी आपका सत्य स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप क्षत्रिय कुल में उत्पन्न होने के कारण अथवा भय से दूसरों की रक्षा करने के कारण क्षत्रिय कहलाते हैं, यदि आप क्षत्रिय से भिन्न किसी अन्य कुल में उत्पन्न हुए होते तथा दूसरों की रक्षा करने की शक्ति आपमें न होनी तो आप क्षत्रिय नहीं कहे जा सकते । अतः यह भी आपका सत्यस्वरूप नहीं गिना जा सकता ।

अब आप ‘मैं’ राजा हूँ, इसका विचार करें । आज आप अनेक मनुष्यों के ऊपर इस विशाल पृथ्वी पर अपनी दृष्टान्त चला रहे हैं, आज्ञा पालन में सभी प्रभुत्व रहते हैं और आप ऐश्वर्य का अनुभव करते हैं एवं विचार करते हैं कि इन्हीं कारणों से मैं राजा हूँ । किन्तु यदि शासन, आज्ञा, ऐश्वर्य और वैभव सब नष्ट हो जाय तो क्या आप राजा कहे जा सकते हैं ? (नहीं) ये राज्य, वैभव आदि संशोभन के बाले होने से विभूत नहीं हैं । इस लिए ‘मैं’ राजा हूँ यह आपका सत्य स्वरूप नहीं गिना जा सकता,

जैसे—आहार, जल, वायु, चिन्ता, परिश्रम, निश्चिन्तता आदि अनेक कारणों से शरीर की वृद्धि या ह्रास होता है। वैसे ही इंट, चूना, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी, लोहा, पृथ्वी आदि अनेक कारणों के कम व अधिक होने से घर छोटा या बड़ा बनता है। अत एव जैसे घर बनानेवाला या घर में रहनेवाला घर नहीं है, किन्तु घर से पृथक् है, इसी प्रकार इस शरीर को बनाने वाला या इस शरीर में रहने वाला इससे पृथक् है*।

घर या महल के झरोखे में खड़ा होकर कोई भी मनुष्य बाहर के पदार्थों को अच्छी तरह से देख सकता है। वैसे ही शरीर के नेत्र रूपी झरोखे इस शरीर में रहता हुआ आत्मा संसार के पदार्थों को देख सकता है। यहां पर

जैसे योग्य सामग्री के अभाव से घर छोटा और कम टिकाऊ होता है और सामग्री की विपुलता से घर बड़ा और अधिक टिकाऊ होता है वैसे ही शुभ कर्म के अभाव से शरीर छोटा और सौंपकमी मिलता है और शुभ कर्म के अधिकता से शरीर दृढ़ और निरूपकमी मिलता है, परन्तु जिस तरह घर के छोटे बड़े अथवा कम अधिक टिकाऊपन से घर के मालिक अथवा रहने वाले पर कोई असर नहीं होता वैसे ही शरीर की सुदृढ़ता और निर्बलता से आत्मा के शुद्ध स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता है, न उसमें शरीर सदृश व्यवहार ही होता है। इससे भी सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर दोनों भिन्न पदार्थ हैं।

ज्ञानमय है, ज्ञाता है, द्रष्टा है। किन्तु देहादि दृश्यपदा जड हैं, प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, अज्ञान स्वरूप हैं, द्रष्टा से देखे जाते हैं, ज्ञाता से जाने जाते हैं। इन लक्षणों से विचार करने पर दृश्यादि पदार्थों से जो भिन्न है वही 'मैं' हूँ, अर्थात् आत्मा हूँ।

जिस प्रकार तलवार से पृथक् उसका मियान है, उसी प्रकार यह आत्मा देह से भिन्न है। यहाँ शंका हो सकती है कि, जब आत्मा देह से भिन्न है तो वह नेत्रों द्वारा क्यों नहीं देखा जाता? परन्तु इस प्रश्न का उत्तर विचार करने पर आपके समक्ष में स्वतः आ जायगा कि नेत्रों को दिखानेवाला (प्रकाश देनेवाला) जब आत्मा ही है, तो वह नेत्रों से कैसे देखा जा सकता है।

प्रत्येक इन्द्रिय को अपने अपने विषय का प्रत्यक्ष होता है, जैसे-आँख को घटादि का, कान को शब्दादि का, नाक को गन्धादि का, जिह्वा को रसादि का, और त्वचा को स्पर्शादि विषय का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु इन पाँचों इन्द्रियों के विषयका ज्ञान जिसे होता है वह आत्मा है। अतः अपने अपने विषयको आत्मा के द्वारा प्रत्यक्ष करनेवाली इन्द्रियों से यह आत्मा कैसे प्रत्यक्ष किया जा सकता है।

जिस इन्द्रिय से जिस विषय का प्रत्यक्ष हुआ था उस इन्द्रिय के नष्ट होने पर भी उस विषय का ज्ञान रहता ही

करण से आव को 'मैं' कौन हूँ, इस प्रश्न का उत्तर विदित होगया होगा कि 'मैं' आत्मा हूँ, और देहादि सब पदार्थों से विलक्षण तथा पृथक् हूँ ।

॥

तृतीय परिच्छेद पुनर्जन्म

यह एक अनुभवसिद्ध वस्तु है कि लाखों रुपया खर्च करके बनवाया गया विशाल और कलात्मक सुन्दर मकान, जिसका नींव (जड) निर्बल हो अथवा नींव ही न हो, तो चिरस्थायी नहीं बन सकता, बहुत ही अल्प काल में वह गिर जायगा, यही स्थिति आत्मज्ञान के विषय में है। मनुष्य, जगत में प्रचलित समस्त ज्ञान-विज्ञान में निष्णात बन भी जाय, भौतिक स्थिति के विषय में आने ही कठिनतम प्रश्नों को हल करने की शक्ति भी प्राप्त करले किन्तु जगत के मूलभूत व्यापक आत्मा के विषय में स्वल्प भी ज्ञान न हो, तो सम्पूर्ण भौतिक विज्ञान निरर्थक सा हो जाता है, केवल भौतिक विज्ञान से मानव जगत की परीक्षा-निर्यात करने की वजाय और बढ़ती ही जाती है, यह तो वर्तमान जगत में भी अनुभव हो सकता है। अन्तिम लक्ष्यभूत ज्ञान मानव को प्राप्त करने के लिये मानव को आध्या-

मनुष्य विद्वच्छिरोमणि होता है दूसरा निपट मूर्ख रहता है। इन सब की विचित्रता का कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिए। एक ही जाति के एक ही कुल में व एक ही माता पिता से उत्पन्न होनेवाले वालकों में ऐसी भिन्नता क्यों ? यही भिन्नता आत्माकी अमरता व पुनर्जन्म को सिद्ध करती है।

इससे इतना अवश्य आपके समझ में आया होगा कि आत्मा शरीर से भिन्न है और मूल द्रव्य की अपेक्षा यह अमर व नित्य है तथा पर्याय नाम रूप की अपेक्षा से अनित्य भी है। इसके साथ “मैं कौन हूँ” इस विचार का भी स्पष्टीकरण हो गया।

चतुर्थ परिच्छेद

यह संसार क्या है ?

[छ द्रव्यों की व्याख्या]
जड़ और चेतन (सजीव निजीव) पदार्थों से यह संसार परिपूर्ण है। अर्थात् उक्त जड़ तथा चेतन रूप ही संसार हैं। ये दोनों ही सर्वत्र पृथक् पृथक् रूप से नाना आकृतियों में विभक्त दीखते हैं। अतः यह विश्व किसी भी अवस्था में इन दो से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जड व चेतन का संयोग-वियोग के विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण द्वारा आपको प्रस्तुत परिच्छेद के आरम्भ में जो कहा है “जगत् जड चेतनमय है” उसका स्पष्ट ज्ञान हो गया होगा। अब आप इस संसार के ऊपर एक सर्वग्राही दृष्टिपात करें तो आपको जगत की कोई भी वस्तु शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इन पाँचों गुणों से भिन्न न दिखेगी न अनुभव में ही आयेगी।

इस कथन से आपको ‘जगत क्या है’ ? इस प्रश्नका उत्तर समझ में आ गया होगा कि जगत् जड और चैतन्यसे परिपूर्ण है अथवा जड और चेतनात्मक ही जगत् है।

कितनेही जड पुद्गल सर्वथा निर्जीव हैं और मनुष्यादि सजीव प्राणी जड मिश्रित जीव हैं। हम दोनों का विस्तार ही जगत् है। दृष्टिगोचर होने वाले चित्र विचित्र दृश्यादि सब जड चैतन्य हैं।

३२

पंचम परिच्छेद

इस विचित्रता का क्या कारण है ?

(गम और द्वेष)

जैसे—एक समय छः यात्री एक जङ्गल से यात्रा कर रहे थे। ग्रीष्मऋतु के कारण उस जङ्गल में जामुन के मिष्ट फलों से कुछ वृक्ष लदे हुए थे, बहुत वृक्षों के नीचे काले काले जामुन के ढेर पड़े हुए थे जिसे देखकर उन यात्रियों को जामुन खाने की इच्छा उत्पन्न हुई ! उन यात्रियों के बीच से एक बोला—भाई ! अपने पास कुल्हाड़ी है इन जामुनों के एक वृक्ष को जड़ से काट डालो जिसके गिरने से हम लोग आनन्द व शान्ति पूर्वक जामुन के फलों को खा सकेंगे ।

दूसरा बोला—भाई ! पेड़ काटने से क्या प्रयोजन ? एक अच्छी डाली काट लो उसीसे हम लोग जामुन खा लेंगे ।

तीसरा बोला—इतनी बड़ी डाली काटने से क्या लाभ ? छोटी छोटी डालियाँ काट लो उममें से ही हमें अधिक से अधिक जामुन खाने को मिल जायेंगे । व्यर्थ मैं बड़ी डाली काट कर पेड़ खराब करना और अपना परिश्रम गंवाना यह कहाँ की पण्डिताई है ?

चौथा यात्री बोला—भाई छोटी छोटी डालियाँ क्यों काटी जायँ ? जहाँ जहाँ जामुन के गुच्छे हों उन्हें काट लो अपने लोगों का स्वार्थ सिद्ध हो जायगा ।

पाँचवाँ बोला—भाई ऐसा क्यों न किया जाय कि

एक तोला रह जाय । इसके बाद यदि आप आस्वाद करके देखें तो अनुभव होगा कि एक सेर रस की अपेक्षा परिपक्व एक तोले रस में कटुता व मधुरता ४० गुना अधिक है । यदि उसी एक सेर रस में एक मन पानी डाल दिया जाय तो वही कटुआपन या मिठास उतना ही कम हो जायगा ।

इसी प्रकार कर्म करते समय जैसा तीव्र या मन्द परिणाम (आशय, विचार, अध्यवसाय) उत्पन्न होते हैं उसी प्रमाण में वह जीव तीव्र या मन्द सुख दुःख का अनुभव करता है ।

इसी लिए महात्मा पुनः पुनः सम्बोधनात्मक वाणी से जगत् के प्राणियों को सावधान करते हैं कि आप लोग मोहराज के इस मोहक चक्र में न फँसें, आप इस समय उन्मत्तावस्था में आनन्दपूर्वक जिन विलष्ट कर्मों को बांध रहे हैं उनका मूल्य आपको चुकाना पड़ेगा, जब वे सत्तागत (बाँधे हुये) कर्म उदय में आवेंगे तब पश्चात्ताप की महती ज्वाला आपके हृदय में धक्केगी, चारों तरफ से अवसन्नता आपको घेर लेगी । जिन कर्मों को आपने मस्ती व उन्माद से छलकते हुए हास्य द्वारा बाँधे हैं, उन्हें दुःखमयी आहों के साथ आंखों से सावन भादों के समान अखण्ड नीर बरसाने पर भी भोगे बिना मुक्त नहीं हो सकते ।

हस्तामलकवत् त्रैकालिक वस्तुसमूह के दर्शन की सामर्थ्य दब जाती है। यह कर्म आत्मगुण को सर्वथा दबा नहीं सकता है। अन्यथा आत्मा जडस्वरूप (जडवत्) हो जायगी। परन्तु जिस प्रमाण से आत्मा की ज्ञानशक्ति पर दबाव पड़ता है उसी प्रमाण से ज्ञान गुण की वृद्धि या ह्रास होता है।

२-दर्शनावरणीयकर्म—यह आत्मा के दर्शनगुण को दबाता है। नेत्रहीनता, कर्णवधिरता, घ्राणहीनता, जिह्वा से स्वाद का ज्ञान न होना, त्वचा से शीतोष्णादि स्पर्श का ज्ञान न होना, निद्रा कम आना, इन्द्रियों के बिना आत्मविशुद्धि से सामान्यतया होने वाले ज्ञान का न होना आदि उक्त कर्म के उदय का परिणाम है। इस कर्म का भी उदय जिस प्रबल या मन्द वेग से होता है उसी के अनुसार आत्मा के दर्शनगुण पर इसका प्रभाव पड़ता है।

३ वेदनीय कर्म—यह आत्मा के अनन्त सुख को दबाता है। वेदनीय कर्म के उदय से जीव अनेक प्रकार के पौद्गलिक सुख-दुःख का अनुभव करता है। दैवी वैभव और मानुषीय ऐश्वर्य ये शुभ वेदनीय कर्मोदय के परिणाम हैं। शारीरिक और मानसिक दुःख अशुभ वेदनीय कर्मोदय का फल कहा जाता है। वेदनीय कर्म का उदय

दवाता है। इस कर्म के उदय होने पर जीव, मान, अपमान, कीर्ति, अपकीर्ति आदि प्राप्त करता है तथा वस, स्थावर आदि अनेक उँचे नीचे नामों से पुकारा जाता है। स्वयं आत्मा होने पर भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि संज्ञाओं को लाभ करता है। यह नामकर्म १०३ प्रकार के विभिन्न भेदों में विभक्त है।

७-गोत्र कर्म—यह आत्मा के अरूपी (रूपरहित) गुण को दवाता है। गोत्रकर्म उदय होने से जीव उच्च नीच गोत्र में पहुँच कर अनेक बार असत्य अपमान, सम्मान या सुख दुःखों का अनुभव करता है।

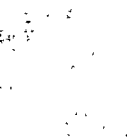
८-अन्तराय कर्म—यह कर्म आत्मा के अनन्तवीर्य गुण को दवाता है। इसके उदय से जीव इष्ट वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता है तथा अपने पास दान देने योग्य वस्तु होने पर भी किसी दूसरे को दयाभाव से न तो दे सकता है और न स्वयं उपयोग में ला सकता है।

व्यवहार किया जाता है। इस लौकिक व्यवहार से आत्मा में उन्नता नीचता नहीं आती है। तात्त्विक दृष्टि से सब की आत्मा समान है। इस योग्यता मूलक समानता को स्थिर रखने वाला स्थिति स्थापक गुणहीन अगुणकल्प है। इसी गुण के प्रभाव से द्रव्य द्रव्यान्तर का, गुण गुणान्तर का कार्य नहीं करता है।

१५ दिन की होती है उसी प्रकार किसी कर्म की स्थिति दो घड़ी और किसी की पच्चीस पचासवर्ष की होती है। किसी कर्म की स्थिति सागरोपमादि अतिउत्कृष्ट काल तक होती है।

रस (मिठास या कडवास) किसी लड्डू में उसके दल से दो गुना या चौ गुना होता है। इसी प्रकार कर्म का कडवापन (दुःखरूप) या मिठास (सुखरूप) इसके दल से दुगुना चौगुना या लाख गुना तक अधिक हो सकता है। ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जो थोड़े ही समय में असह्य दुःख का अनुभव कर लेते हैं और अनेक मनुष्यों को वही कर्म परमाणु अधिक (रसाधिक्य) होने से दीर्घकाल तक असहनीय दुःखों को भोगते हुए तड़पना पड़ता है। उनकी स्थिति ऐसी दयनीय हो जाती है कि दूसरों को उसका वर्णन सुनते ही शरीर में कँपकँपी छूटने लगती है।

“ये सब इस जगत की विचित्रता है” जो कर्म पर ही निर्भर करता है। जहाँ भी विवेचनात्मक दृष्टिपात किया जाय वहाँ एक भी देहधारी जीव ऐसा न दीखेगा जो इसकर्म की विचित्रता का शिकार न हुआ हो। इस कर्म की विचित्रता का आधार इष्ट या अनिष्ट वस्तुओं पर रागद्वेष के परिणाम स्वरूप अध्यवसाय ही होते हैं। वे ही इस विचित्रता के मूल कारण कहे जाते हैं।



निश्चयदृष्टि से आत्मा कर्मफल से अलिप्त है, किन्तु व्यवहार नय से लिप्त कहा गया है। निर्लिप्त दृष्टि से ज्ञानी शुद्ध होता है और क्रियावान् "मं लिप्त हूँ" इस दृष्टि से पुरुषार्थ कर शुद्ध होता है।

सिद्ध परमात्मा शुद्ध तथा ज्योतिर्मय स्वरूप हैं। वे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस, और कर्मण इन पाँचों प्रकारके शरीरसे पृथक् हैं। शरीरी न होने के कारण सिद्धात्मा जन्म, मरणादि शरीरधर्म से भी रहित हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक आनन्द, अनन्त आत्मिक सुख, सादिअनन्त स्थिति, अगुरुलघु, अरूपी युक्त और अनन्त आत्मिक वीर्य इन आठ आत्मिक गुणों से सिद्धोंका स्वरूप कहा गया है, जो अन्य जीवों का भी सत्यस्वरूप है।

इस सत्ता स्वरूप के साथ अथवा सिद्ध परमात्मस्वरूप के साथ अपने वर्तमान स्वरूप की तुलना तथा जहाँ सत्ता स्वरूप की न्यूनता दृष्टिगोचर हो वहाँ उस न्यूनता को मिटाने के लिये दिन रात प्रयत्नशील होकर निरन्तर आत्मोपयोग में जीवन यापन करना चाहिये। सार यह है कि किसी भी क्षण आत्मा के शुद्धस्वरूप को हृदय से पृथक् न करे। मनमन्दिर में उत्पन्न हुई परपरिणति अर्थात् आत्मस्वरूप के अतिरिक्त किसी भी वृत्तियों को आश्रय

निश्चयदृष्टि से आत्मा कर्मफल से अलिप्त है, किन्तु व्यवहार नय से लिप्त कहा गया है। निर्लिप्त दृष्टि से ज्ञानी शुद्ध होता है और क्रियावान् "मं लिप्त हूँ" इस दृष्टि से पुरुषार्थ कर शुद्ध होता है।

सिद्ध परमात्मा शुद्ध तथा ज्योतिर्मय स्वरूप है। वे औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तेजस, और कर्मण इन पाँचों प्रकारके शरीरसे पृथक् हैं। शरीरी न होने के कारण सिद्धात्मा जन्म, मरणादि शरीरधर्म से भी रहित है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आत्मिक आनन्द, अनन्त आत्मिक सुख, सादिअनन्त स्थिति, अगुरुलघु, अरूपी युक्त और अनन्त आत्मिक वीर्य इन आठ आत्मिक गुणों से सिद्धोंका स्वरूप कहा गया है, जो अन्य जीवों का भी सत्यस्वरूप है।

इस सत्ता स्वरूप के साथ अथवा सिद्ध परमात्मस्वरूप के साथ अपने वर्तमान स्वरूप की तुलना तथा जहाँ सत्ता स्वरूप की न्यूनता दृष्टिगोचर हो वहाँ उस न्यूनता को मिटाने के लिये दिन रात प्रयत्नशील होकर निरन्तर आत्मोपयोग में जीवन यापन करना चाहिये। सार यह है कि किसी भी क्षण आत्मा के शुद्धस्वरूप को हृदय से पृथक् न करे। मनमन्दिर में उत्पन्न हुई परपरिणति अर्थात् आत्मस्वरूप के अतिरिक्त किसी भी वृत्तियों को आश्रय

क्रियामार्गविलम्बी को भी अन्त में ज्ञानमार्ग में आना ही पड़ता है। जिस मनुष्य में दौड़ने की शक्ति न हो उसे पहले धीरे धीरे और बाद में वेग से चलना चाहिये। यही रीति कर्ममार्ग की है, ज्ञानमार्ग भी इसमें साथ ही रहता है। क्रिया का प्राधान्य होने के कारण धीरे धीरे वह इस मार्ग में आगे बढ़ता है। चूंकि क्रियामार्ग में भी ज्ञान की मुख्यता स्वयं सिद्ध है, फिर भी क्रिया की प्राथमिकता होने से उसे क्रियामार्ग कहा जाता है।

इस मार्ग में जो क्रिया करनी पड़ती है वह विशुद्ध होती है या अधिकारी परस्वे (योग्यता भेद से) शुभ होती है। इससे पुण्य का बन्ध भी होता है, किन्तु लक्ष्य बिन्दु शुद्ध स्वरूप तथा स्वसत्ता ही है। इस क्रिया को सत्य स्वरूप की प्राप्ति निमित्त ही करनी चाहिये।

एक यात्री किसी नगर को जाने के लिये यात्रा करता है, किन्तु लम्बा मार्ग होने के कारण थक जाने से वह रास्ते में किसी स्थान पर एक दिन या कुछ अधिक समय रुक कर विश्राम करता है। इससे वह रास्ता भूल गया ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसे अपने इच्छित स्थान पर पहुँचने का ध्यान रहता ही है। परिश्रम दूर होने पर यात्रिक वहाँ से आगे चलने का पुनः यत्न करता है। बाद वह अपने निश्चित मार्ग द्वारा इष्टस्थान

और तुरन्त ही स्वच्छ व निर्मल करने के लिये कमर कस कर तैयार हो गया । दीपक को भवन के बीच रख कर सर्व प्रथम उसने धूली आने के मार्गों को वन्द किया । बाद फावड़ा लेकर उस जभी हुई धूलियों को निकालना प्रारम्भ किया । जब देखा कि अब फावड़े से निकालने योग्य धूलि नहीं रही तब चारीक बुहारी से धूल को झाड़ कर महल को विलकुल स्वच्छ कर दिया । ऐसे तो यह दृष्टान्त अत्यन्त सरल है, किन्तु इसका अभिप्राय समझना अत्यन्त कठिन है । अतः साररूप से यहाँ समझाया जाता है ।

भवन परम शुद्ध स्वरूप आत्मा है, दरवाजे और खिड़कियाँ आश्रय (आने के मार्ग) हैं । स्वाभी कर्माधीन जीव अज्ञानरूपी घोर निद्रा में निमग्न है । जागृत होना अर्थात् अन्तर में आत्मभाव का प्रकाश होना । ज्ञानरूपी दीपक के प्रकाश की सहायता से उसे शुद्ध आत्मा की दुर्दशा समझ में आई कि आत्मा पर कर्मरूपी धूल पड़ी हुई है, जिससे उस आत्मस्वरूप की अपूर्व शोभा नष्ट हो रही है । ऐसा जानकर शीघ्र ही आश्रय रूपी दरवाजे को संयम की क्रियाओं से वन्द कर दिया और बाह्य तथा आभ्यन्तर तपश्चर्या रूपी फावड़ा व बुहारी से कर्मरूपी रज को महल से बाहर निकालकर आत्मा को शुद्ध तथा निर्मल बनाया । अतः परमशान्ति का मार्ग संयम और तपस्या कहा गया है ।

तो उसकी दिशा किस प्रकार हो सकती है ? इसका उत्तर
अन्यन्त सरल तथा गम्भीर है जो ध्यान देने पर स्वतः
स्पष्ट हो जायगा। आत्माधिष्ठित देह, पर जीवों का समत्व
है तथा जिस देह के साथ आत्मा को दूसरा स्थान परिवर्तन
है, जिसके नाश से आत्मा को दूसरा स्थान परिवर्तन
करना पड़ता है। उन दश प्राणों (पाँच इन्द्रिय, मन,
वचन तथा शरीरबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य) का नाश
करना अथवा उन्हें किसी प्रकार से पीड़ित करना यहाँ पर
जीवहिंसा कहा गया है। अतः उक्त दश प्राणों का नाश
अथवा उन्हें स्वल्पातिस्वल्प भी दुःख पहुँचाने वाला कार्य
नहीं करना चाहिये।

२. सत्य- क्रोध, लोभ, भय या हास्यादि किसी प्रकार
(मन, वचन, काय) से असत्य भाषण नहीं करना अथवा
अन्य से नहीं कराना और असत्य भाषण करने वाले की
विचारात्मक या क्रियात्मक रूप से सहायता नहीं करना
यह सत्य संयम कहलाता है।

३. अचौर्य-स्वामी की आज्ञा विना किसी भी वस्तु का
ग्रहण नहीं करना न दूसरे से ग्रहण करवाना न ग्रहण करते
हुवे की सहायता करना यह अचौर्य संयम है।

४. ब्रह्मचर्य-देव, मनुष्य और तिर्यश्च सम्बन्धी उप-
भोगेच्छा से पृथक् रहना व दूसरे का भी प्रवृत्त न होने

करना, उसके परिणाम पर विचार कर शान्त होना क्रो-
संयम कहा जाता है ।

१२. मानकपाय जय-मन में अहंकार गर्व नहीं करना,
उस विषय में नम्रता से कार्य कर मान का मर्दन करना
यह मान संयम है ।

१३. मायाकपाय जय-छल कपट नहीं करना, सर-
लतापूर्वक प्रत्येक अवसर पर वर्तवि करना तथा माया के
ऊपर विजय प्राप्त करना, इसको माया संयम कहते हैं ।

१४. लोभकपाय जय-सभी स्थानों पर संतोष वृत्ति
धारण कर लोभ को जीतना, यह लोभ संयम है ।

१५. मनदण्ड विरति-जिससे आर्त और रौद्र परि-
णाम हो ऐसा कोई भी विचार नहीं करना चाहिये । अतः
विचार ऐसा हो जिससे मन धर्मध्यान और शुक्लध्यान में
लगे । इसे मनदण्डविरति संयम कहते हैं ।

१६. वचनदण्ड विरति-अपने को या दूसरे को जिससे
क्लेश उत्पन्न हो ऐसा वचन नहीं बोलना चाहिये । वचन
ऐसा हो जो दूसरे का हितकारी हो तथा अपने को गुप्ती
बनाने वाला हो । इसे वचन दण्ड विरति कहते हैं ।

१७. कायदण्ड विरति-शरीर से ऐसी कोई भी क्रिया
न हो जो दूसरों को कष्ट पहुंचावे । क्रिया ऐसी होनी

हो जाते हैं। पूर्व संचित कर्म को दूर करने के लिये तपः ही महान् साधन कही गयी है। तप दो प्रकार का है १ वाह्य और २ आभ्यन्तर।

वाह्य-तप (क)

उपवास, स्वल्प आहार, नियमित वस्तु का सेवन, ऐसे रसादि जिनसे विकृति उत्पन्न हो उनका त्याग, अधिक समय तक एक स्थान पर बैठने का अभ्यास तथा अंगोपांग का संकोच, वायुपहित स्थान में जैसे-दीपज्वाला अखंड और स्थिर रहती है उसी प्रकार स्थिरात्मक भाव से एकासन पर बैठना आदि वाह्य तप कहे गये हैं जो आभ्यन्तर तप से अत्युपयोगी हैं। उपवासादि से शरीर का महत्त्व कम जाता है, इन्द्रियां अपने अधीनस्थ होती हैं, निश्चयता आती है तथा अधिक समय तक ध्यानस्थ होने की शक्ति प्राप्त होती है। ये वाह्यतप आत्मजागृति में अत्यन्त आवश्यक हैं।

आभ्यन्तर तप (ख)

आत्मनिरीक्षण कर मध्यम मार्ग में जहाँ वृद्धि हुई हो उसे गुरु के समक्ष स्वीकाररूप प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध होना, गुरु आदि का विनय कर्त्तव्य, मंत्रार्पण, तपस्वी महारत्नाओं की सेवा कर्त्तव्य, आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करना, ध्यान में लीन होना, एवं मलिन वाग्विचारों का दूर

उसके अनुसार ही सांसारिक प्रत्येक व्यवहार में जब कोई जटिल समस्या उपस्थित हो तब बारंबार विचार करना चाहिये तथा जीवनियों में दृढ़ता चाहिये कि अप्रमत्त मुनि ऐसे अवसरों पर किस प्रकार व्यवहार कर गये हैं ? जिस प्रकार पूर्व महापुरुषों का व्यवहार हो उन्हीं के पथ का अनुकरण करने की सर्वदा चेष्टा करना चाहिये । तथा उनकी प्रवृत्ति एवं करुणा और वैराग्य की वृत्ति या उपयोग की जागृति का विचार कर उसी के अनुसार अपने आप को बनाना चाहिये ।

यही मुनिपद का आराधन या मुनिपद का ध्यान कहा गया है । इस प्रकार प्रवृत्त पुरुष जब मुनिपद योग्य सब गुणों को अपने हृदयपट पर अंकित करले तब उससे उच्च उपाध्याय पद का आलम्बन करना चाहिये ।

मुनिपद के अनुसार उपाध्याय के गुणों का अनुकरण कर उपाध्याय पद की प्राप्ति करनी चाहिये । जब स्वतः हृदय में प्रतीति हो जाय कि उपाध्याय पद योग्य गुणों से आत्मा पूर्ण हो गया तदन्तर उन्कृष्ट आचार्य पद का ध्यान करना चाहिये ।

आचार्य के उत्तीर्ण गुणों को अपने सम्मुख रख कर उन्हीं के अनुसार व्यवहार करने हुए “ मैं आचार्य हूँ ” इस प्रकार का विचार भाव में करना (द्रव्य से आचार्य न होने के कारण) तथा उनके गुणों के समान अपने में गुण

उत्तम भोजन सर्वदा श्रेष्ठ है। यदि कारणवश उत्तम भोजन का अभाव हो तो क्षुधित रहने की अपेक्षा साधारण भोजन से भी क्षुधा-शान्ति जैसे उचित तथा योग्य है। उसी प्रकार जब तक मनुष्य में परमशान्ति मार्ग पर चलने की शक्ति न हो तब तक गृहस्थधर्म ही स्वीकार करना योग्य तथा श्रेष्ठ कहा गया है। इससे योग्यता की वृद्धि होती है। बिना योग्यता प्राप्त किये उच्चपदारोहण कर गुणों का प्राप्त करना अत्यन्त दुःसाध्य है। अन्यथा इस पद से भी च्युत होने की सम्भावना रहती है। इसलिये अब तक उच्च पद पालन की क्षमता न हो तब तक उससे न्यून पद का पालन ही उचित है। यही गृहस्थों का सद्धर्म कहा गया है। जिसका पालन सर्वथा कर्तव्य है। जिस पुरुष में साधु मार्ग का अवलम्बन करने की क्षमता नहीं है उसे अपने योग्य गृहस्थ धर्म ही स्वीकार करना चाहिये।

दशम परिच्छेद

गृहस्थधर्म—द्वादश व्रत

गृहस्थों को चाहिये कि वे सर्व प्रथम आत्मस्वरूप ज्ञान के पदवात् नाना वैचित्र्य सम्पन्न संसार स्वरूप का ध्यान करें। तदनन्तर अग्रिम व्रतों को स्वीकार करना

गये हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और चन्द्रपति ये पांच प्रकार के जीव स्थावर हैं। इन पांच प्रकार के जीवों की निरन्तर रक्षा करना गृहस्थों के लिए परम आवश्यक है। अतः उनका उपयोग विवेक पूर्वक होना चाहिये। त्रस जीव तो पूर्ण रक्षणीय हैं। किन्तु व्यवहार में त्रस जीवों का विनाश सम्भव है। अतः ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि इनका ज्ञानपूर्वक (ज्ञान बृद्धकर) नाश न किया जाय।

२. स्थूलमृपावाद विरमण—“आज दस बजे मैं आऊँगा” इस प्रकार व्यवस्था कर यदि दस के बाद आये तो उसे असत्य बोलने का दोष लगता है। अथवा “यह आम का बगीचा है।” किन्तु उस बगीचे में आम के अतिरिक्त अन्य भी वृक्ष हों तो उसे मिथ्या भाषणजन्य पाप होता है। अतः ये सूक्ष्म असत्य कहे जाते हैं। तीव्र जागृति के बिना इन सूक्ष्म असत्त्वों के त्याग में गृहस्थ असमर्थ रहते हैं। किन्तु लोकव्यवहार में जो स्थूल असत्य माने गये हैं उनका त्याग तो गृहस्थ को अवश्य करना

३. स्थूलअदत्तादान विरमण-चोरी नहीं करनी चाहिये। स्वामी की आज्ञा बिना एक तिनके का ग्रहण भी चोरी है। किन्तु सर्व प्रथम गृहस्थ को बड़ी चोरी का त्याग करना चाहिये जैसे सेन्ध मारना, ताला तोड़ना, रास्ता छूटना जेब काटना आदि गृहस्थ को अवश्य छोड़ना चाहिये।

सात्त्विक हो, मद्य मांसादि पदार्थ तामसी व राजसी होने के कारण शान्तिमार्ग में विनाशकारी कहे गये हैं। अतः इनका तथा अन्य ऐसे कार्यो का (जिनके करने से अनेक जीवों की संहारसम्भावना हो) सर्वथा त्याग करने से ही गृहस्थ अपने दृष्ट मार्ग में अग्रसर हो सकता है।

८. अनर्थदण्डविरमण—विना प्रयोजन कर्म करना अनर्थदण्ड कहा गया है। यह चार प्रकार से विभाजित किया जाता है जैसे—१ आर्तरीद्र ध्यान, २ पापोपदेश, ३ हिंसक साधन देना, ४ प्रमादाचरण सेवन। ये चार अनर्थदण्ड के भेद कहे गये हैं।

(१) आर्त रीद्र ध्यान—विना प्रयोजन अपने को तथा दूसरे को कष्ट तथा सुख पहुंचाने वाली आकाश कुसुमवत् बातों को सोचते रहना आर्तरीद्र ध्यान कहा गया है।

(२) पापोपदेश—जो कार्य अपने साध्य न हो अथवा अकर्तव्य हो उसको दूसरे को उपदेश देना पापोपदेश है।

(३) हिंसक उपकरण—जिससे जीवों का विनाश सम्भव हो इस प्रकार के अस्त्रादि उपकरण का संग्रह नहीं करना, न दूसरे को मांगने पर देना। यह हिंसक उपकरण त्याग कहा गया है।

(४) प्रमादाचरण त्याग—इसका संक्षिप्त अर्थ है प्रमादयुक्त

१२. अतिथि संविभाग—परम शान्तिमार्ग के पथिक, सर्वथा गृहस्थाश्रम को छोड़े हुए त्यागी, मुनि आदि उपनाम से विशेषित महात्माओं को परमशान्ति मार्गोपयोगी वस्तुओं की सेवा करना अतिथि संविभाग व्रत है।

रे गृहस्थधर्म के योग्य गृहस्थों के लिये द्वादश व्रत कहे गये हैं। द्वादश के अतिरिक्त सर्वदा देवाधिदेव की प्रतिमा का पूजन करना तथा तीर्थयात्रा में रत होते हुए दयावृद्धि से दीन दुःखी जीवों का उद्धार करना, धर्म सम्बन्धी व्याख्यान सुनना व धर्माचार्यों की आज्ञा शिरोधार्य कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य कर उनकी आज्ञा पालन करना स्वधर्मी बान्धव व बहिनों का उद्धार तथा उनकी आवश्यक सहायता कर धर्ममार्ग में स्थिर रखना श्रेष्ठ कर्तव्य है।

यदि धन सम्पन्न हों तो लोकोपकारी व धार्मिक संस्थायें स्थापन करके उनका स्वयं प्रबन्ध करें तथा इस कार्य को करने के लिये दूसरे को भी प्रेरित करें। इस प्रकार लोकहित साधन पूर्वक अपने धर्म की रक्षा करते हुए आगे बढ़ना योग्य है।

यद्यपि गृहस्थधर्म लम्बा है किन्तु सरलतापूर्वक परमशान्ति स्थान में जानेका एक निर्विघ्न मार्ग है। अतः परमपदाभिलाषियों को चाहिये कि विवेक पूर्वक गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए आगे बढ़ने का यत्न करें।

श्रीमद् आचार्य महाराज श्री विजय- केसरसूरीश्वरजी विरचित अपूर्व ग्रंथो.

पुस्तक के नाम

लेखक

श्री योगशास्त्र (भाषांतर) श्री आ. वि. केसरसूरिजी म.		
श्री मलयसुन्दरी चरित्र	"	"
श्री शान्तिनो मार्ग	"	"
श्री आत्मज्ञान प्रवेशिका	"	"
श्री धर्मोपदेशतत्त्वज्ञान (गुज. हिन्दी)	"	"
श्री ध्यान दीपिका	"	"
श्री महावीर तत्त्व प्रकाश	"	"
श्री आनन्द अने प्रभु महावीर	"	"
श्री सम्यग् दर्शन	"	"
श्री आत्मानो विकासक्रम अने- महामोहनो पराजय	"	"
श्री प्रभुना पंथे ज्ञाननो प्रकाश	"	"
श्री नीति विचार ग्नमाळा	"	"
श्री राजकुमारी मुद्गना चरित्र	"	"
श्री आत्मविमुक्ति	"	"
श्री दशवैकालिक [भाषांतर]	"	"

